वैदिक सूक्तोंकी महत्ताके प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण निबन्ध

पुरुषसूक्त और श्रीसूक्तका दिव्य दर्शनात्मक संदेश

(डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे)

अनन्त एवं अपौरुषेय वेदोंके अन्तर्गत अनेक कल्याणकारी सूक्तोंका समावेश है। देवी-देवताओंके शास्त्रोक्त पूजन और अभिषेक आदिमें इन सूक्तोंका प्रयोग किया जाता है। इन सूक्तोंमें 'पुरुषसूक्त' तथा 'श्रीसूक्त'—ये दोनों विशेष रूपसे प्रचलित हैं। वेदोक्त पूजा-अर्चामें पुरुससूक्तकी ऋचाओंका उच्चारण किये बिना पूजा अपूर्ण मानी जाती है।

वस्तुतः 'पुरुषसूक्त' तथा 'श्रीसूक्त'—ये दोनों स्तोत्र सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके सामाजिक परिवेशका सम्यक् दर्शन कराकर सम्पूर्ण सुखमय जीवन प्राप्त करनेका संदेश प्रदान करते हैं।

ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ९०वें सूक्तको 'पुरुषसूक्त'-की संज्ञा दी गयी है। इस सूक्तमें १६ ऋचाएँ परिगणित हैं। नारायण इसके ऋषि हैं और देवता 'पुरुष' तथा छन्द 'अनुष्टुप्' एवं 'त्रिष्टुप्' हैं।

यह सूक्त तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण है। उस विराट् आदिपुरुषके संदर्भमें मन्त्रद्रष्ट ऋषियोंने चिन्तन करके जो खोज की और उन्हें जो साक्षात्कार हुआ, उसीका समग्र वर्णन इस सूक्तमें संनिहित है। सूक्तकारको सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय प्रतीत हुआ है। इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें ईश्वर और जगत्की एकरूपता प्रतिपादित है तथा ईश्वरकी अनन्तता एवं व्यापकताका परिज्ञान हुआ है। यज्ञकी प्रधानता प्रस्थापित हुई है और यह भी प्रामाणिक रूपसे मन्त्रद्रष्टा ऋषिने सिद्ध किया है कि यज्ञसे ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति हुई है।

उस विराट् पुरुषका समग्र दर्शन एवं दिव्य स्वरूप कैसा है, इसका वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋक् १०। ९०। १)

अर्थात् उस विराट् पुरुषके हजारों अर्थात् अगणित मस्तक हैं तथा उसके हजारों नेत्र एवं असंख्य चरण हैं। ऐसा यह विराट् पुरुषका स्वरूप है, जिसने सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें समाविष्ट कर लिया है, उसके पश्चात् भी वह दस अंगुल शेष है—'**दशाङ्गुलम्**'।

उस विराट् पुरुषके अवयवोंसे मानव-जातिकी उत्पत्ति हुई। सूक्तकार कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋक् १०। ९०। १२)

—मन्त्र-द्रष्टा देवताओं और ऋषियोंने कहा है कि ऊरु आदि विराट् पुरुषद्वारा (सृष्टिरूपी यज्ञद्वारा) उसके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, जंघाओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई। मनसे चन्द्रमा, नेत्रोंसे सूर्य, मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायुका प्रादुर्भाव हुआ।

अभिप्राय यह है कि मनके अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा, आँखोंसे सूर्य, कर्णके वायु और वाणीके देवता अग्नि हैं। ब्राह्मण तथा अग्निका प्रादुर्भाव एक ही स्थानसे होनेके कारण दोनोंको समान स्थान दिया गया है। इसीलिये अग्निको आहुति देने योग्य माना गया। जहाँ अग्निको घी समर्पित कर होम किया जाता है। ब्राह्मण अग्निस्वरूप होनेसे श्रेष्ठ है।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

(ऋक्० १०। ९०। १४)

उस विराट् पुरुषके नाभिसे अन्तरिक्ष (आकाश), मस्तकसे द्युलोक (स्वर्ग), चरणोंसे पृथ्वी, कर्णोंसे दिशाएँ निर्मित हुईं। इस प्रकार ईश्वरके अवयवोंसे भूर्लोक, भूवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोककी कल्पना की गयी है।

विश्व और सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी सृष्टि किस प्रकार हुई, इनका आधारस्तम्भ कौन है? उसका दिव्य दर्शन पुरुष-सूक्तार्थसे ज्ञात होता है।

प्राणिमात्रकी सृष्टि करनेके पश्चात् उसके भरण-पोषण एवं संरक्षणकी समस्या स्वाभाविक थी। इसी समस्याके समाधान-हेतु संशोधन करना क्रम-प्राप्त था और उसी चिन्तन-मनन एवं आविष्कारका परिणाम है—'श्रीसूक्त'।

'श्रीसूक्त' या 'लक्ष्मीसूक्त' ऋग्वेदके परिशिष्ट सूक्तके 'खिलसूक्त' में दृग्गोचर होता है। अथर्ववेदमें भी इसका उल्लेख है। अलग-अलग संहिताग्रन्थोंमें इस सूक्तके ऋचाओंकी संख्या २५ से २८ तक है। तथापि हमारे विद्वान् संशोधनकोंने प्रथम पंद्रह ऋचाओंको स्वीकार कर उसे 'मुख्य-सूक्त' की मान्यता दी है। सोलहवीं उपसंहारात्मक तथा फलश्रुति-दर्शक है। जैसा कि ऋचासे स्पष्ट है—

सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत्॥

—इस सूक्तके संदर्भमें कुछ विद्वान् कहते हैं कि इसके ऋषि चार हैं। जैसे—आनन्द, कर्दम, चिक्लीत और इन्दिरासुत। देवताके संदर्भमें दो मत प्रचलित हैं—कोई 'श्री' एवं 'अग्नि' दो देवता कहते हैं तो कोई 'श्री' यही एक देवता हैं—ऐसा मानते हैं।

वस्तुतः 'श्रीसूक्त' काम्य-सूक्तके रूपमें अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। श्रद्धावानोंकी कसौटीमें यह खरा उतरा है। देवीकी आराधनमें जप, अभिषेक तथा हवन-हेतु इस सूक्तका उपयोग किया जाता है।

'श्री' ऐहिक देवता हैं, श्रीसूक्तमें सम्पत्ति, वैभव, खेती-बाड़ी, पशुधन, धन-धान्य-सम्पदा, पुत्र-पौत्र-सुख, सेवक तथा परिवार-सुख और कीर्ति—इन सभीकी लौकिक समृद्धि प्राप्त होकर उसके समुचित उपभोगका सामर्थ्य प्राप्त करने एवं आयु-आरोग्यके प्राप्तिकी सुन्दर कल्पना अनुस्यूत है।

श्रीसूक्तसे प्रमुखतया दो बातें प्रकट होती हैं—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** और **'जीवेम शरदः शतम्'** की भावना। अर्थात् वैदिक जीवनादर्शके अनुरूप कर्म करते हुए ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न होकर सौ वर्षतक जीनेकी अवधारणा।

देवीके स्वभावके विषयमें वर्णन करते हुए सूक्तकार कहते हैं कि वह दयालु, स्वयंतृप्त और अन्योंको तृप्त करनेवाली है।

सूक्तकार सम्पूर्ण राष्ट्रकी समृद्धिके लिये, राष्ट्रनिवासियोंकी सुख-शान्ति-प्राप्ति-हेतु प्रार्थना करते हैं—

उपैतु मां देवसुखः कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे॥

हे देवि! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हों—अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमें उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करें।

हमारे वैदिक समाजने आलसी, अकर्मण्य एवं दूसरोंके भरोसेपर बिना परिश्रम किये अपना जीवन-यापन करनेवाले व्यक्तियोंको समाजमें स्थान नहीं दिया है। ऐसे व्यक्ति समाज एवं राष्ट्रके लिये घातक सिद्ध होते हैं। ऐसे लोगोंसे हमें सावधान किया गया है। स्वार्थी, लूटपाट करनेवाले, धन-लोलुपोंका तिरस्कार किया गया है। पद्मवासिनी माँ लक्ष्मीका अस्तित्व उसकी सुगंधसे ज्ञात होता है। साथ ही उसे शुष्क गोमयके समूह—अर्थात् गाय उसे प्रिय है। इन गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण उसे सम्पूर्ण भूतोंकी ईश्वरी कहा गया है (**सर्वभूतानामीश्वरी**)।

हमारा वैदिक समाज केवल धान्यसे भरपूर भण्डारोंकी ही कामना नहीं करता, अपितु **'सुजलाम्, सुफलाम्, शस्यश्यामलाम्'** भूमि माँगता है। वह केवल दूध ही नहीं माँगता, मधुर दूध देनेवाली कामधेनुकी भी कामना करता है। साथ ही बैल, घोड़े, उत्तम पशु-पक्षी, घर-बार, पुत्र-पौत्र, खेती-बाड़ी तथा धन-धान्यकी सदैव पूर्णता रहे—ऐसी कामना-पूर्ति-हेतु श्रीसे प्रार्थना करता है। साथ ही वह श्रीवर्चस्व, आयुष्य एवं आरोग्य-प्राप्ति-हेतु विनती करता है। सम्माननीय जीवनका आकांक्षा रखते हुए लक्ष्मी माँ से कहता है—हे माँ लक्ष्मी! तेरा स्मरण-चिन्तन, पूजन-अर्चन और अभिषेक आदि करनेवाले भक्तोंमें क्रोध-लोभ, मत्सर और दुर्बुद्धिका प्रवेश न हो, इन षड्रिपुओंसे उन्हें मुक्त रखो (श्रीसूक्त)।

श्रीसूक्तद्वारा अर्थ-व्यवहारका वैदिक तत्त्वज्ञान प्रतिपादित है। साथ ही सूक्तमें अर्थार्जनका निःस्वार्थ मार्ग एवं उपभोगकी सुसंस्कृत अभिरुचिका सम्यक् दर्शन होता है।

इस प्रकार हमारे धर्मधुरीणोंने दैनिक ईश्वर-पूजा-अर्चनामें 'पुरुषसूक्त' का समावेश कर विराट् विश्वशक्तिका सुन्दर दर्शन कराया है और यज्ञद्वारा त्यागाश्रित उपासनाकी शिक्षा देकर 'श्रीसूक्त' का समावेश कर धरित्री माँके मङ्गलमय उदार वैभवका दर्शन कराकर, मानव-समाजको सम्पन्न निरामय जीवनका दिव्य संदेश दिया है।

वैदिक चिन्तनमें कृषि-चर्चा

[कृषिसूक्त, गोसूक्त, गोष्ठसूक्त, वृषभसूक्त एवं वर्षासूक्तकी महत्ता]

(डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी पाण्डेय)

यद्यपि कृषि एवं कृषिसे सम्बन्धित विषयोंकी विशिष्ट एवं विशद चर्चा अथर्ववेदके तीसरे और चौथे काण्डके विविध अध्यायोंमें ही है, फिर भी इस आलेखके शीर्षकमें 'अथर्ववेदीय चिन्तन' के स्थानपर 'वैदिक चिन्तन' पदका व्यवहार वैदिक वाङ्मयके अखण्ड-रूपकी दृष्टिसे किया गया है। तत्त्वतः चारों वेद एक ही हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् उस '**सर्वहुत यज्ञ**' अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे ऋचाएँ (ऋग्वेद), साम, छन्द (अथर्व) और यजुः उत्पन्न हुए। अतः उनमें किसी प्रकारका भेद या अन्तर करना अनुचित तथा दोषपूर्ण है। वेदत्रयीके नामपर जो लोग ऋक्, साम और यजुर्वेदको ही मूल वेद मानकर अथर्ववेदको इन्हीं तीनोंके आधारपर अथर्वण ऋषिके द्वारा रची गयी बादकी कृति करार देते हुए वेदत्रयीका परिशिष्ट बताते हैं; वह नितान्त भ्रामक है। वैदिक साहित्यके ज्ञाता वेदत्रयीका शुद्ध अर्थ वेदके ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डके रूपमें लेते हैं। वेदत्रयीका अर्थ वेदत्रय कदापि नहीं हो सकता। उक्त तीनों काण्डोंकी पृथक्ता यज्ञ-कर्मकी उपयोगिताकी दृष्टिसे स्वीकार की गयी है, जो वेदके अखण्ड अपौरुषेय ज्ञानका विभाजक नहीं है। आर्ष और शुद्ध मान्यता यही है कि चारों वेद मूलतः एक हैं। इसमें ऋग्वेदका निम्नलिखित मन्त्र स्वतः प्रमाण है—

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।

(ऋक्० १०। २१। ५)

अर्थात् 'अथर्ववेदसे उत्पन्न विद्याने समस्त काव्योंका ओजस्वी ज्ञान प्राप्त किया।' स्पष्टतः अथर्वा अथवा अथर्ववेदकी रचना यदि बादमें पृथक्-रूपसे हुई होती तो इसकी चर्चा ऋग्वेदमें नहीं होती।

अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १७वें सूक्तको 'कृषिसूक्त' कहते हैं। इसमें कुल ९ मन्त्र हैं। इसी काण्डके २४वें सूक्तमें सात मन्त्र समाहित हैं, जिनमें कृषकोंके घरको धन-धान्यसे परिपूर्ण करनेकी प्रार्थना की गयी है। चौथे काण्डके २१वें सूक्तमें 'गोसूक्त' उद्गीत है, जिसके आरम्भिक मन्त्रमें ही गौओंसे अपने घरमें आकर दुग्ध-घृतसे मङ्गल प्रदान करनेकी प्रार्थना की गयी है। इसमें सात मन्त्र हैं। इससे पूर्व तीसरे काण्डके १४वें सूक्तमें मन्त्र-संख्या एकसे छः में गौओंकी महिमाका बखान करते हुए चारा आदिसे सम्पन्न गोष्ठों (गोशालाओं)-में आजीवन अपनी समस्त संततिके साथ सुखपूर्वक निवास करनेकी प्रार्थना गो-धनसे की गयी है; जिसे 'गोष्ठसूक्त' कह सकते हैं। चौथे काण्डके ११वें सूक्तमें, जिनमें कुल बारह मन्त्र हैं, कृषिमें अप्रतिम योगदानके लिये बैलों (वृषभदेव)-की स्तुति की गयी है, जो 'वृषभसूक्त' से अभिधेय है। तीसरे काण्डके १३वें सूक्तमें खेतोंकी सिँचाईके मूल स्रोत वर्षासे जल प्रदान करनेके लिये वरुणदेवकी प्रार्थना की गयी है, जिसे 'वर्षासूक्त' या 'वरुणसूक्त' कहेंगे। इस सूक्तमें सात मन्त्र प्रयुक्त हैं।

अथर्ववेदके अतिरिक्त ऋग्वेदके १०वें मण्डलके सूक्त-संख्या १०१ के तीसरे और चौथे मन्त्रमें कृषिको श्रेष्ठ उद्योग बताते हुए उत्तम ढंगसे खेतकी जमीन तैयार करने, उत्तम बीज डालने तथा फसल पकनेपर ही धान काटनेके लिये हँसिया (**सृण्यः**)-का प्रयोग करनेके निर्देश दिये गये हैं। कुछ मन्त्रोंका पाठ अथर्ववेद और ऋग्वेदमें पूर्णतः या आंशिक रूपसे शब्दशः समान मिलता है।

उपर्युक्त सूक्तोंको पढ़नेसे कृषि, कृषि-कार्य, गो, गोष्ठ (गोशाला), कृषिसे जुड़े कृषकों तथा गाँवों आदिके बारेमें जो बिम्ब बनता है तथा धारणा तैयार होती है, उसका सारभूत विवरण नीचेकी पंक्तियोंमें दिया जा रहा है—

कृषिसूक्त

कृषिसूक्तके प्रथम मन्त्रमें ही अत्यन्त आलंकारिक ढंगसे कहा गया है कि कृषि एक उत्तम उद्योग है। इसका उपयोग बुद्धिमान् और ज्ञानीजन दैवी सुख प्राप्त करनेके लिये करते हैं। अर्थात् कृषिसे ही मानव-जातिका कल्याण होता है—

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ (अथर्व० ३। १७। १)

इसीके आगे मन्त्र-संख्या दोसे पाँचतकमें कृषिकर्मका पूरा चित्र उभारते हुए कहा गया है कि 'हे शोभावान् किसानो! हलोंको जोतो। लकीरें बनाकर बीज बोओ। भूमिको सुन्दर ढंगसे जोतो और बैलोंके पीछे किसान ठीक ढंगसे सुखपूर्वक चलें'—

युनक्त सीरा वि युगा तनोत
कृते योनौ वपतेह बीजम्।
x x x
शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।

(अथर्व० ३। १७। २, ५)

लकीरें बनाकर बीज डालनेके निर्देशसे पता चलता है कि वेदोंमें वैज्ञानिक ढंगसे खेती करनेपर जोर दिया गया था। आजकल कृषकोंको 'किसान' कहते हैं, जो वैदिक शब्द '**कीनाश**' का ही अक्षर-विपर्यय तथा स्वर-भेदसे बना अप्रभ्रंशित रूप है। '***उत्तम खेती मध्यम बान***' की उक्ति भी वैदिक मूलकी है।

कृषिसूक्तमें खेती करनेके उपदेशोंके साथ ईश्वरसे भरपूर अन्न उपजानेकी प्रार्थना भी की गयी है—'**नः शुनष्टिः सभरा असत्**' यह भी प्रार्थना की गयी है कि अच्छी सिँचाईके लिये खेतोंको पूरा जल मिले तथा वायु और सूर्य हमारा परिश्रम सफल करें—

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्॥

(अथर्व० ३। १७। ७)

आश्चर्य तो तब होता है जब यह पढ़नेको मिलता है कि धान आदि जब पक जाते हैं तभी दरँती (सृणि) हँसियासे स्पर्श करने योग्य होते हैं; तात्पर्य यह है कि कच्ची फसल नहीं काटनी चाहिये। यह उक्ति ऋग्वेद (१०। १०१। ३)-में भी मिलती है—'**नेदीय इत् सृण्यः पक्वेमेयात्**'; क्योंकि इससे प्रशंसनीय सुफलमयी खेती हमें प्राप्त होगी—'**गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो**' (ऋक्० १०। १०१। ३)। इसके साथ-साथ यह भी निर्देश है कि खेतोंमें बीज बोनेके समय यह खयाल रखना चाहिये कि खेतोंके बीच तथा एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेके लिये जमीन अवश्य छोड़ी जाय—'**उदिद्वपतु गामवि प्रस्थावद्रथवाहनं०**' (अथर्व० ३। १७। ३)। सूक्तके अन्तमें प्रार्थना है कि हमारी भूमि जलसे सिंचित हो, धान्यादि (विविध अन्न) देनेवाली हो। कृषक सुखपूर्वक खेत जोतें, वृषभ उन्हें सुख देनेवाले हों, हल और डोरयाँ अनुकूल हों—

.....सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥

(अथर्व० ३। १७। ५-६)

गोसूक्त

भारत आदिकालसे 'गङ्गा' और 'गौ' को अपनी माँ मानता है। अतः नदियोंके साथ महत्त्व वेदोंमें होना अनिवार्य है। अथर्ववेदके चौथे काण्डके २१वें सूक्त (गोसूक्त)-का पहला ही मन्त्र इस प्रकार है—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥

अर्थात् 'गौएँ हमारी ओर आयें, हमारा मङ्गल करें। वे गोष्ठमें बैठकर हमें गुग्धादिसे प्रसन्न करें। संतानवती अनेक रंगोंकी गौएँ यजमानके घरमें बढ़ती रहें और अनेक उषाकालमें दुहाती हुइ इन्द्रका आह्वान करानेवाली हों।' इस मन्त्रार्थके विविध महत्त्वपूर्ण पक्ष स्वतः स्पष्ट हैं। इस सूक्तके पाँचवें मन्त्रमें कहा गया है कि गौएँ ही पुरुषके लिये धन हैं तथा इन्हींके दुग्ध-घृतादिसे युक्त हविद्वारा मैं हार्दिक भावसे इन्द्रकी पूजा करता हूँ। आगेका छठा मन्त्र कहता है कि 'हे गौओ! तुम अपने दुग्धादि-रससे निर्बल प्राणीको पुष्ट करो और असुन्दर अङ्गवाले पुरुषको सुन्दर करो। तुम हमारे घरको सुशोभित करो। तुम्हारा दुग्धादि परम प्रशंसित है'—

घरको भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्वावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
x x x
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्व० ४। २१। ५-६)

इन वेदोक्त भावोंसे स्पष्ट हो जाता है कि गायें हमारे भौतिक तथा अध्यात्मिक उन्नतिका प्रधान बल हैं। इनसे हमारी भौतिक भलाई ही नहीं, सात्त्विक आस्तिकता भी जुड़ी है।

गोष्ठसूक्त

यह सूक्त अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १४वें सूक्तमें वर्णित है, जिसके छः मन्त्रोंमें सर्वथा सुरक्षित और चारा आदिसे सुसम्पन्न गोशालाओंमें गौओंको आकर सुखपूर्वक दीर्घकालतक अपनी बहुत-सी संततिके साथ निर्भय रहनेका आह्वान तथा प्रार्थना की गयी है—

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।

x x x

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।

(अथर्व० ३। १४। ३, ५)

इस सूक्तकी मन्त्र-संख्या तीनमें यह भी कामना की गयी है कि हमारी गौएँ रोगरहित, मधुर दूध धारण करनेमें समर्थ तथा स्थूल थनवाली हों। चारा और धनसहित असंख्य होती हुई वे चिरकालतक नीरोग होकर जीवित रहें और हमें भी चिर आयुष्य दें तथा उसी रूपमें हम लोग भी तुम्हें प्राप्त हों—'**रायस्पोषेण**', '**बहुला भवन्ती**', '**अनमीवा जीवन्तीः**', '**वः जीवा उपसदेम।**' इन मन्त्रांशोंमें गो-आभार, गो-प्रेम ही नहीं; अपितु गो-संवर्धनकी भी कामना प्रकट की गयी है।

वृषभसूक्त

वृषभसूक्तमें बैलकी महिमा गायी गयी है तथा इसे अग्नि, ब्रह्मा एवं प्रजापतिके समान स्मरण करते हुए गाड़ी खींचने, खेत जोतने तथा भार ढोनेके सुकर्मोद्वारा पृथिवीका पोषण-कर्ता कहा गया है। अथर्ववेदमें साररूपसे वृषभकी महान् सेवाओंके बारेमें सब कुछ कह दिया गया है—

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्ध्रुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥

अर्थात् 'जैसे इन्द्र वृष्टिकी जलसे इस चराचरात्मक संसारका पालन करता है, वैसे ही यह अनड्वान्—बैल अपने वीर्य-सिंचनसे पशुओंकी उत्पत्ति करते हुए (तथा अपने पराक्रमसे खेतोंको जोतते हुए) दूध-दही-धान्यादि अन्न प्राप्त कराता हुआ संसारका पोषण करता है।' इस सूक्तका १०वाँ मन्त्र काव्यात्मक ढंगसे कहता है कि—

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः॥

अर्थात् यह अनड्वान् अलक्ष्मी (दरिद्रता)-को परास्त कर उसपर चढ़ता और अपनी जाँघोंसे भूमिको उद्भिन्न करता हुआ अपने सामनेवाले परिश्रमी किसानको अन्न प्राप्त कराता है। इसकी महिमाको सप्तर्षि ही जानते हैं—'**सप्त ऋषयो विदुः**'।

वर्षासूक्त

यह अथर्ववेदके तीसरे काण्डका १३ वाँ सूक्त है। इसके मन्त्रोंकी सम्पूर्ण संख्या सात है। इसमें जलको नदी, अप् तथा उदक नामसे स्मरण करते हुए कल्याणकारी घृतका स्वरूप बताया गया है और मधुर रसके रूपमें खेतोंमें प्रविष्ट करता हुआ देखा गया है। साथ ही यह प्रार्थना की गयी है कि 'हे जल! जिस खेतमें मैं तुम्हें प्रविष्ट कराऊँ, उसमें तुम इस प्रकार स्थिर हो जाओ, जिस प्रकार मण्डूककी पीठपर फेंका हुआ शैवाल चिपक जाता है'—

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः॥

(अथर्व० ३। १३। ७)

वस्तुतः वैदिक चिन्तन एक ऐसी शस्यश्यामला कृषिका दिग्दर्शन कराता है, जिसके कृषक परिश्रमी हैं, कृषिको मूल तथा श्रेष्ठ उद्योग मानते हैं, बैल पुष्ट और स्वस्थ हैं, कृषकोंको बल-वीर्य देनेवाली गायें दुधारू, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग तथा स्थूल थनोंवाली अनेक संततियाँ प्रदान करनेमें सक्षम हैं तथा चारा-घाससे सम्पन्न अच्छी गोशालाओंमें रहती हैं, खेतोंके लिये सम्यक् वर्षा और सिँचाई सुलभ है एवं खेत तथा गाँव इस रूपमें अवस्थित हैं कि उनतक रथों तथा गाड़ियोंद्वारा पहुँचा जा सकता है। ऐसी कृषिके स्वामी गोवंश-प्रेमी कृषकोंकी समृद्धिका पता इस मन्त्रसे चलता है—

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्॥

(अथर्व० ३। २४। ४)

अर्थात् 'सहस्रों धाराओंसे सम्पन्न होनेपर भी जलकी उत्पत्तिका स्थान जिस प्रकार क्षीणतारहित होता है, उसी प्रकार हमारा यह संचित धान्य अनेक धाराओंको प्राप्त करता हुआ (अनेकविध उपभोगमय होता हुआ) भी क्षीण न हो।' दूसरे शब्दोंमें हमारी कृषि सदा-सर्वदा ही समृद्ध रहे।

'नासदीय-सूक्त'—भारतीय प्रज्ञाका अनन्य अवदान

(डॉ० श्रीरामकृष्णजी सराफ़)

भारतीय संस्कृतिमें वेदोंका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। वेद भारतीय वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके प्रातिभ ज्ञानकी अन्यतम उपलब्धि हैं। हमारे ऋषियोंकी अनन्त ज्ञानराशिका दुर्लभ संचय हैं। भारतीय मनीषाके अक्षय भण्डार हैं। वेद केवल भारतके ही नहीं—विश्वके—निखिल मानव-जातिके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्राचीन कालमें हमारे ऋषियोंने अपने गम्भीर चिन्तन-मननद्वारा जो ज्ञान अर्जित किया, वह हमें वेदोंमें उपलब्ध होता है।

चारों वेदोंमें ऋग्वेदका स्थान प्रमुख है। ऋग्वेदके वर्णित सूक्तोंमें इन्द्र, विष्णु, रुद्र, उषा, पर्जन्य प्रभृति देवताओंकी अत्यन्त सुन्दर एवं भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंके साथ ऋग्वेदमें लौकिक एवं धार्मिक विषयोंसे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण अनेक सूक्त हैं। इनमें आध्यात्मिक सूक्त दिव्य ज्ञानसे ओतप्रोत हैं। इन्हें दार्शनिक सूक्तके रूपमें भी जाना जाता है। ऋग्वेदके दार्शनिक सूक्तोंमें पुरुषसूक्त (ऋक्० १०।९०), हिरण्यगर्भसूक्त (ऋक्० १०।१२१), वाक्सूक्त (ऋक्० १०।१२५) तथा नासदीय-सूक्त (ऋक्० १०।१२९) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेदके ये सूक्त अपनी दार्शनिक गम्भीरता एवं प्रातिभ अनुभूतिके कारण विशेष महिमा-मण्डित हैं। सूक्तोंमें ऋषियोंकी ज्ञान गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित होती है। समस्त दार्शनिक सूक्तोंके बीच नासदीय-सूक्तका अपना विशेष महत्त्व है। प्राञ्जलभावोंसे परिपूर्ण यह सूक्त ऋषिकी आध्यात्मिक चिन्तन-धाराका परिचायक है।

नासदीय-सूक्तमें सृष्टिके मूलतत्त्व, गूढ रहस्यका वर्णन किया गया है। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिके चिन्तनमें किस प्रकार प्रस्फुटित होता है, यह नासदीय-सूक्तमें देखनेको मिलता है। गहन भावाकाशमें ऋषिकी मेधा किस प्रकार अबाध विचरण करती है, यह नासदीय-सूक्तमें उत्तम प्रकारसे प्रदर्शित हुआ है। सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्मतासे विचार किया गया है। इसीलिये यह सूक्त 'सृष्टिसूक्त' अथवा 'सृष्ट्युत्पत्तिसूक्त'के नामसे भी जाना जाता है।

नासदीय-सूक्तमें कुल सात मन्त्र हैं। सूक्तमें ऋषि सर्वप्रथम कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें न तो (नामरूपविहीन) असत् था और न उस अवस्थामें (नामरूपात्मक) सत् ही अस्तित्वमें था। उस समय न तो अन्तरिक्ष था न कोई लोक था और न व्योम था। न कोई आवश्यक तत्त्व था अथवा न भोक्ता-भोग्यकी सत्ता थी। उस समय जल-तत्त्वका भी अस्तित्व नहीं था।

उस अवस्थामें न तो मृत्यु थी और न अमरत्व था। न निशा थी और न दिवस था। सृष्टिका अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न उस समय नहीं था। केवल एक तत्त्व था, जो बिना वायुके भी अपनी ऊर्जासे श्वास ले रहा था और बस उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋक्० १०।१२९।२)

सृष्टिसे पूर्व प्रलयावस्थामें तम ही तमसे आच्छन्न था अर्थात् सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस अवस्थामें नाम-रूपादि विशेषताओंसे परे कोई एक दुर्ज्ञेय तत्त्व था, जो सृष्टि-सर्जनाके संकल्पकी महिमासे स्वयं आविर्भूत हुआ। सृष्टिसे पूर्वकी अवस्थामें उस एकाकीके मनमें सृजनका भाव उत्पन्न हुआ। उसीकी परिणति सृष्टिके जड-चेतनरूप असंख्य आकारोंमें हुई। यही सृष्टि-तन्तुका प्रसार था। सृष्टिका विस्तार था।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें जब नाम-रूपात्मक सत्ता ही नहीं थी, तब यथार्थरूपमें कौन जानता है कि विविधस्वरूपा यह सृष्टि कहाँसे और किससे उत्पन्न हुई? देवता इस रहस्यको नहीं बतला सकते, क्योंकि देवता भी तो सृष्टि-रचनाके अनन्तर ही अस्तित्वमें आये थे।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०।१२९।७)

'गिरिसरित्समुद्रादियुक्त विविधरूपा यह सृष्टि उपादानभूत जिन परमात्मासे उत्पन्न हुई, वे इसे धारण करते हैं (अथवा नहीं), अन्यथा कौन इसे धारण करनेमें समर्थ है? अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त इस सृष्टिको धारण करनेमें कोई समर्थ नहीं है। इस सृष्टिके

अधिष्ठाता जो परम उत्कृष्ट आकाशवत् निर्मल स्वप्रकाशमें अवस्थित हैं, वे ही इस सृष्टि-रहस्यको जानते हैं (अथवा नहीं जानते हैं), अन्यथा कौन दूसरा इसे जाननेमें समर्थ है अर्थात् वे सर्वज्ञ ही इस गूढ सृष्टि-रहस्यको जानते हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता।'

नासदीयके तीन भाग हैं—

प्रथम भागमें सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन है। उस अवस्थामें सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था, न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था। न कोई भोग्य था, न भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो बस, केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था, जो वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमें कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी, उसीकी महिमासे संसाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ। इस परम सत्तामें सिसृक्षाभाव उत्पन्न हुआ और तब चर-अचररूप निखिल सृष्टिने आकार ग्रहण किया।

तृतीय भागमें सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो यह कह सके कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? सामर्थ्यवान् देवता भी नहीं कह सकते, क्योंकि वे भी तो सृष्टि-रचनाके बाद ही अस्तित्वमें आये थे। संसार-सृष्टिके परम गूढ रहस्यको यदि कोई जानते हैं तो केवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अध्यक्ष हैं, अधिष्ठाता हैं। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीय-सूक्तमें ऋषिने सृष्टि-सर्जनाके गुह्यतम रहस्यको निरूपित किया है। हमारे लिये यह परम गौरवका विषय है कि दर्शनके इस अतिशय गूढ सिद्धान्तका विवेचन सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, जनक, व्यास, शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिक महाविभूतियोंकी प्रादुर्भाव-भूमि भारतवर्षमें हुआ। ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तकी गणना विश्वके शिखर साहित्यमें होती है। जगत्-सर्जनाके रहस्यको उद्घाटित करनेकी भावनासे विश्वके किसी भी मनीषी (कवि)-के द्वारा नासदीय-सूक्तसे अधिक गम्भीर एवं प्रशस्त काव्यकृति आजतक नहीं रची गयी। यह अपने-आपमें इस सूक्तकी उत्कृष्टताका संदेश देता है। दर्शन एवं कविता दोनोंकी उच्चतम कल्पनाकी अभिव्यक्ति इस सूक्तमें मिलती है। सूक्तमें आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्ट-रूपसे अभिव्यक्त हुई है। विश्वमें एकमात्र सर्वोपरि सर्जक एवं नियामक सत्ता है, इसका भी सूक्तमें स्पष्ट संकेत मिलता है। नासदीय-सूक्तके इसी विचार-बीजका पल्लवन एवं विकास आगे अद्वैतर्शनमें होता है। भारतीय संस्कृतिमें यह धारणा—मान्यता बद्धमूल है कि विश्वब्रह्माण्डमें एक ही सर्वोच्च सत्ता है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं है। नासदीय-सूक्तमें इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

ऋग्वेदका 'कितवसूक्त'—कर्मण्य जीवनका सदुपदेश

(डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा)

वेद मानवीय सभ्यता और संस्कृतिके आदिग्रन्थ हैं। वे सबलता-दुर्बलतासमन्वित मानवीय व्यक्तित्वके सजीव-सस्फूर्त दर्पण हैं। जहाँ प्रकृतिकी संचालिता शक्तियोंके साक्षात्कारकी उन्हें भी तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको संचालित करनेवाली आदिशक्ति—परमात्मतत्त्व (पुरुष)-के गूढ दार्शनिक विवेचनकी तथा उनसे तादात्म्य लाभके लिये छटपटाहटकी हृदयावर्जक झाँकी भी उनमें है, वहीं मानवके सहज-सरल और प्राकृत जीवनका प्रवाह भी उनमें तरलित-तरंगित हो रहा है।

सम्भवतः जगत्स्रष्टाने मानवके भीतर सत्प्रवृत्तियोंके साथ-साथ असत्प्रवृत्तियोंका और शक्तिके साथ दुर्बलताका सन्निवेश इसलिये किया है कि भौतिक उपलब्धियोंसे गर्वित होकर मानव उसे भुला न बैठे। उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वको एक झटका लगे तथा उसे वास्तविकताका ज्ञान हो सके, इसके लिये ही उसने उसमें जन्मजात दुर्बलताएँ भी भर दी हैं। मानवीय मेधाके सर्वांगीण विकासका सर्वप्रथम और समग्र संकलन है 'ऋग्वेद'। उसमें जहाँ भावुक ऋषिकी स्फीत भावधारा अपने सहज-सरल रूपमें 'उषा' आदि सूक्तोंके उत्कृष्ट कवित्वमें तरलित हुई है, 'अग्नि' आदि सूक्तोंमें वैज्ञानिक गवेषणाकी प्रवृत्ति तथा 'पुरुष' और 'नासदीय-

सूक्तों'में आध्यात्मिक-दार्शनिक चिन्तनका सहज परिपाक दिखायी देता है, वहाँ 'कितव' जैसे सूक्त उसकी अधोगामिनी सामाजिक प्रवृत्तिको प्रकट करते हैं।

वैदिक युगसे ही जुआ खेलना एक सामाजिक दुर्व्यसन रहा है। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डलका ३४वाँ सूक्त है 'कितव'। जिसका अर्थ होता है—द्यूतकर या जुआरी। 'कितव-सूक्त' के अनुष्टुप् और जगती छन्दोंमें रचित १४ मन्त्रोंमें कवष एलूष ऋषिने स्वगत-कथन या आत्मालापपरक शैलीमें जुआरीकी हीन-दयनीय वैयक्तिक और पारिवारिक दशाका, उसके पराजयजन्य पश्चात्तापका, उसकी संकल्प-विकल्पात्मक मनोदशाका और शाश्वत सामाजिक संदेशका बड़ा ही यथार्थ और प्रेरक दृश्य खींचा है। भारतमें वैदिककालसे ही जुएका खेल चौसरद्वारा होता था।

कितव कहता है— 'चौसरके फलकपर बार-बार नाचते हुए ये पाशे सोमके पेयकी तरह मेरे मनको स्फूर्ति और मादकतासे भर देते हैं[1]।' फलतः वह बार-बार इस दुर्व्यसनके परित्यागका निश्चय करके भी उससे छूट नहीं पाता। पाशेके शब्दोंको सुनकर स्वयंको रोक पाना उसके लिये कठिन है। 'वह सब कुछ छोड़ सकता है, अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका परित्याग भी उसे सहज है, किंतु जुएके खेलको वह छोड़ नहीं सकता। जब द्यूतका मद उतर जाता है और वह अपनी सामान्य स्थितिमें आता है तो उसे अपनी पति-परायणा पत्नीके अकारण परित्यागके लिये बड़ा पश्चात्ताप होता है[2]।' इस बुरी आदतके कारण परिवारमें अपनी हेय और तिरस्कृत स्थितिपर उसे अनुताप होता है—'सास मेरी निन्दा करती है, पत्नी घरमें घुसने नहीं देती। जरूरत पड़नेपर मैं अपने इष्ट-मित्रों या रिश्तेदारोंसे धन माँगता हूँ तो कोई मुझे देता नहीं। मेरी वास्तविक आवश्यकताको भी लोग बहाना समझते हैं। सोचते हैं, यह बहाना बनाकर जुआ खेलनेके लिये ही धन माँग रहा है। बूढ़ा घोड़ा जैसे बाजारमें किसी कीमतका नहीं रह जाता, उसी तरह मैं भी अपना मूल्य खो बैठा हूँ[3]।'

द्यूतमें पराजित कितवकी पत्नीका दूसरे विजेता कितव बलपूर्वक संस्पर्श करते हैं[4]। इस मन्त्रसे यह ज्ञात होता है कि वैदिक युगमें भी लोग अपनी पत्नीको दाँवपर लगा देते थे और हार जानेपर उन्हें अपनी आँखोंसे अपनी पत्नीकी बेइज्जतीका दृश्य देखना पड़ता था।

नवें मन्त्रमें विरोधाभास अलंकारद्वारा पाशोंकी शक्तिमत्ताका बड़ा ही सजीव और काव्यात्मक चित्र खींचा गया है—'यद्यपि ये पाशे नीचे स्थान (फलक)-पर रहते हैं, तथापि ऊपर उछलते या प्रभाव दिखलाते हैं—जुआरियोंके हृदयमें हर्ष-विषाद आदि भावोंकी सृष्टि करते हैं, उनके मस्तकको जीतनेपर ऊँचा कर देते हैं तो हारनेपर झुका भी देते हैं। ये बिना हाथवाले हैं, फिर भी हाथवालोंको पराजित कर देते हैं। ऐसा लगता है मानो ये पाशे फलकपर फेंके गये दिव्य अंगारे हैं, जिन्हें बुझाया नहीं जा सकता। ये शीतल होते हुए भी पराजित कितवके हृदयको दग्ध कर देते हैं'—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥

दसवें मन्त्रमें जुआरीकी पारिवारिक दीन-दशा और वैयक्तिक अधःपतनका बड़ा ही मार्मिक दृश्य अंकित किया गया है—'धनादि साधनोंसे वञ्चित और पतिद्वारा उपेक्षित जुआरीकी पत्नी संतप्त होती रहती है। इधर-उधर भटकनेवाले जुआरी पुत्रकी माँ बेटेकी अपने प्रति उपेक्षा या उसके अधःपतनपर आँसू बहाती रहती है। ऋणके बोझमें दबा हुआ जुआरी आयके अन्य साधनोंसे वञ्चित हो जाता है और कर्ज चुकानेके लिये रातमें दूसरोंके घरोंमें चोरी करता है'—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमानो ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥

(ऋक्० १०। ३४। १०)

दूसरोंकी सजी-धजी और सुखी-सम्पन्न स्त्रियों

१-ऋग्वेद (१०। ३४। १)।

२-न मा मिमेथ न जिहिळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ (ऋक्० १०। ३४। २)

३-द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ (ऋक्० १०। ३४। ३)

४-ऋग्वेद (१०। ३४। ४)।

तथा सुसज्जित गृहोंको देखकर एवं अपनी दीन-हीन विपन्न पत्नी तथा जीर्ण-शीर्ण विद्रूप घरको देखकर जुआरीका चित्त संतप्त हो उठता है। वह निश्चय करता है—'अब मैं प्रातः-कालसे पुरुषार्थका जीवन जिऊँगा। सही रास्तेपर चलकर अपने पारिवारिक जीवनको सुख-समृद्धिसे पूर्ण करूँगा।' किंतु प्रभात होते ही वह पूर्वाभ्यासवश फिर जुआ खेलनेके लिये द्यूतागारका मार्ग पकड़ लेता है।

तेरहवें मन्त्रमें जुआरीको कर्मण्य जीवन जीनेकी प्रेरणा दी गयी है। वास्तवमें जुआ, सट्टा, लाटरी आदिसे धन पानेकी इच्छा मानवकी अकर्मण्य या पुरुषार्थहीन वृत्तिका परिचायक है। वह बिना परिश्रम किये दूसरोंका धन हथिया लेना या पा लेना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसे पुरुषार्थहीन या निकम्मा बना देती है और अन्ततः उसके दुर्भाग्य एवं पतनका कारण बनती है। इसलिये ऋषि कहते हैं—'जुआ मत खेलो। खेती करो। अपने पौरुष या श्रमसे उपार्जित धनको ही सब कुछ मानो। उसीसे सुख और संतोषका अनुभव करो। पुरुषार्थसे तुम्हें अमृततुल्य दूध देनेवाली गायें मिलेंगी, पतिपरायणा सेवामयी पत्नीका साहचर्य मिलेगा। सबके प्रेरक भगवान् सूर्यने मुझे यह संदेश दिया है'—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋक्० १०। ३४। १३)

—यही इस सूक्तका सामाजिक संदेश भी है।

ऋग्वेदका 'दानस्तुति-सूक्त'

(सुश्री अलकाजी तुलस्यान)

'**दानमेकं कलौ युगे**' यह वचन मनुस्मृति (१।८६), पद्मपुराण (१। १८। ४४१), पराशरस्मृति (१। २३), लिङ्गपुराण (१।३९।७), भविष्यपुराण (१।२।११९), बृहत् पराशरस्मृति (१। २२-२३) आदिमें मिलता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—***'जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान'*** (रा० च० मा० ७। १०३ ख)।

शतपथब्राह्मण एवं 'बृहदारण्यक' में 'द' की आख्यायिकामें भी मनुष्यका धर्म 'दान' ही निर्दिष्ट है। राजनीतिमें भी 'दान' नीति बड़े महत्त्वकी है। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्मपर्व' है; फिर 'दानसागर', 'दानकल्पतरु', 'हेमाद्रिदानखण्ड'-जैसे सैकड़ों विशाल निबन्ध तो एक स्वरसे आद्योपान्त दानकी ही महिमा गाते हैं। विष्णुधर्म, शिवधर्म, बृहद्धर्म एवं मत्स्यादि पुराण भी दान-महिमासे भरे हैं। स्कन्दपुराणमें दानके २ अद्भुत हेतु, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाये गये हैं। प्रिय वचन एवं श्रद्धासहित दान दुर्लभ है। वैसे बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई आदि धर्मोंमें भी दानकी अपार महिमा है, पर सबके मूल स्रोत 'ऋग्वेद' के दानसूक्त ही मान्य हैं।

'बृहद्देवता' आदिके अनुसार ऋग्वेदमें (८। ६८। १५—१९, ५। ३८) सैकड़ों दानस्तुतियाँ हैं, पर उसके दशम मण्डलका ११७ वाँ सूक्त सामान्यतया दानकी स्तुतिका प्रतिपादन करनेवाला एक बड़ा ही भव्य सूक्त है। वस्तुतः यह परमोच्च अर्थोंमें 'दानस्तुति' है। इसमें दाताकी प्रशंसा या सिफ़ारिश नहीं है, वरन् इसके मन्त्र उपदेशपरक हैं। इसमें महान् नैतिक शिक्षा है, जो अन्य दानस्तुतियोंमें भी दुर्लभ है। यह सूक्त 'भिक्षुसूक्त' के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमें १ से ३ तथा ५ से ८ ऋचाओंतक धनवान् व्यक्तिको तथा ऋचा ४ एवं ९ में क्षुधार्त याचकको उपदिष्ट किया गया है। इस सूक्तके ऋषि 'आङ्गिरस भिक्षु' हैं।

सूक्तकी पहली ऋचामें कहा गया है—'देवताओंने केवल क्षुधाकी ही सृष्टि नहीं की, अपितु मृत्युको भी बनाया है। जो बिना दान दिये हुए ही खाता है, उस खानेवाले पुरुषको भी मृत्युके ही समीप जाना पड़ता है। दाताका धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करनेवाले मनुष्यको कभी सुख नहीं प्राप्त होता[1]। जो क्षुधाको अन्न-दानसे शान्त करता है, वह सर्वश्रेष्ठ दाता है। जो दान नहीं

१-(क) न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ (ऋक्० १०। ११७। १)
(ख) विष्णुपुराण (३। ११। ७३-७४)-में भी कहा है—अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ·····अदत्त्वा विषमश्नुते॥

करता, जरूरत पड़नेपर उसकी भी कभी कोई सहायता नहीं करता अथवा उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता तथा जो पुरुष स्वयं अन्नवान् होनेपर भी घर आये हुए दुर्बल एवं अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुकके प्रति दान देनेके लिये अपने अन्तःकरणको स्थिर कर लेता है, उसे कभी सुख नहीं मिलता[१]।'

अन्नकी कामनासे घर आये हुए याचकको जो अन्न देता है, वही श्रेष्ठ दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और सभी उसके मित्र हो जाते हैं[२]।

चौथी ऋचा याचक-पक्षके संदर्भमें है। तदनुसार 'वह पुरुष मित्र नहीं है, जो सर्वदा स्नेह रखनेवाले मित्रको अन्नदान नहीं करता। ऐसे पुरुषसे दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है। उसका वह गृह गृह नहीं है। अन्न-प्रदान करनेवाले किसी अन्य पुरुषके यहाँ जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर है[३]।'

सूक्तकी पाँचवी ऋचामें धनवान् पुरुषको दानके लिये प्रेरित किया गया है। इसमें धनकी चञ्चलताका वर्णन करते हुए कहा गया है—'धनवान् पुरुषके द्वारा घर आये हुए याचकको धन अवश्य दिया जाना चाहिये, जिससे याचकको दीर्घमार्ग (पुण्य-पथ) प्राप्त होता है। रथके चक्रके समान धन एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता। वह अन्य पुरुषका आश्रय लेता रहता है[४]।'

'जो प्रकृष्ट ज्ञानवाला है अथवा जिसकी दानमें अभिरुचि नहीं है, वह व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है। वह अन्न उसकी हानिका ही कारण होता है। जो न देवताका हविष-प्रदानादिसे पोषण करता है, न मित्रवर्गको देता है और केवल स्वयं ही खाता है, वह वास्तवमें केवल पापको ही खाता है'—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

इस ऋचामें प्रयुक्त '**केवलाघो भवति केवलादी**' यह अन्तिम चरण वैदिक संस्कृतिकी उत्कृष्टताका प्रतीक है[५]।

'जिस प्रकार न बोलनेवाले ब्रह्मन् (पुरोहित)-की अपेक्षा बोलनेवाला वाक्पटु पुरोहित श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार दाता सदैव अदातासे श्रेष्ठ होता है[६]।'

सूक्तकी आठवीं ऋचा एक प्रहेलिकाके समान है, जो मानव-मनकी चञ्चलताकी ओर संकेत करती है। इसमें कहा गया है—'जिसके पास एक अंश सम्पत्ति है, वह दो अंश धनकी कामना करता है, जिसके पास दो अंश सम्पत्ति है, वह तीन अंश धनवाले पुरुषके पास जाता है और जिसके पास चार अंश धन है, वह उससे अधिकवालेके पास जाता है। अल्प धनी अधिक धनीकी कामना करता है[७]।' तात्पर्य यह कि एक-दूसरेकी अपेक्षा सभीको है,

---

१-'य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विदन्ते'॥ (ऋक्० १०। ११७। २)

२-'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ३)

३-'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ४)

ऋक्० (१०। ११७। ४)-में प्रयुक्त 'ओक' ('गृह') शब्दके लिये डॉ० अविनाशचन्द्र लिखते हैं— A home belonging to an inhabitant of the land, bound by ties of kingship. A home is not meant only for its members, but also for others in need of food and shelter. (Hymns from the Vedas. P. 199)

४-'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः'॥ (ऋक्० १०। ११७। ५)

डॉ० अविनाशचन्द्र इस ऋचाके संदर्भमें लिखते हैं—' The rich man should take a long view of life and think that he may also one day become poor and would need anothers help.' (Hymuns from the Vedas. P. 199)

५-मनु० (३। ११८)-का—'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' तथा गीताका 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'॥ (३। १३)—श्लोक भी इसी उपर्युक्त मन्त्रकी ओर संकेत करता है।

६-'वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्'। (ऋक्० १०। ११७। ७)

७-'एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः'॥ (ऋक्० १०। ११७। ८)

इस ऋचाके लिये विशेष द्रष्टव्य हैं— वेलंकर, ऋक्सूक्तशती, पृ० २९१, नोट ८, 'ग्रिफिथ द हिम्स आप दि ऋग्वेद', पृ० ६२६, नोट ८, विल्सन, ऋग्वेद-संहिता, विण्टरनित्ज, प्राचीन भारतीय साहित्यका इतिहास पृ० ८६, म्योर, ओ० सं० टे०, भाग ५ आदि।

अतः स्वयंको ही धनवान् नहीं मानना चाहिये, अपितु अतिथि याचकको अपना कल्याणकारी मान करके उसे श्रद्धासे धन-दान करना चाहिये। एक धनीकी महत्ता इसीमें है कि वह याचकको धन दे।

सूक्तकी अन्तिम ऋचामें मानव एवं मानव-स्वभावकी असमानताकी ओर संकेत है। वहाँ कहा गया है—'हमारे दोनों हाथ समान हैं, किंतु उनका कार्य भिन्न है। एक ही मातासे उत्पन्न दो गायें समान दुग्ध नहीं देतीं। दो यमज भ्राता होनेपर भी उनका पराक्रम समान नहीं होता। एक ही कुलमें उत्पन्न होकर भी दो व्यक्ति समान दाता नहीं होते[1]।'

अन्ततः सम्पूर्ण सूक्तके पर्यालोचनसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि वैदिक आर्योंकी दृष्टिमें दान एवं दानीकी अपार महत्ता थी। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामें नहीं, वरन् दानशीलतामें मानी गयी है। सम्पूर्ण सूक्तमें दानशीलताकी स्तुति है और इसके प्रत्येक मन्त्र उपदेशपरक हैं।

वैदिक सूक्ति-सुधा-सिन्धु

[१-वेद-वाणी]

१—ऋग्वेदके उपदेश—

१-**न स सखा यो न ददाति सख्ये।** (१०। ११७। ४)
'वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नहीं देता।'

२-**सत्यस्य नावः सुक्रतमपीपरन्॥** (९। ७३। १)
'धर्मात्माको सत्यकी नाव पार लगाती है।'

३-**स्वस्ति पन्थामनु चरेम।** (५। ५१। १५)
'हे प्रभो! हम कल्याण-मार्गके पथिक बनें।'

४-**अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।** (१। ९४। ४)
'परमेश्वर! हम तेरे मित्रभावमें दुःखी और विनष्ट न हों।'

५-**शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।** (१०। १८। २)
'शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।'

६-**सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः।** (४। ३३। ६)
'पुरुषोंने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है।'

७-**सुगा ऋतस्य पन्थाः।** (८। ३१। १३)
'सत्यका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है, सरल है।'

८-**ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।** (९। ७३। ६)
'सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।'

९-**दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते।** (१। १२५। ६)
'दानी अमरपद प्राप्त करते हैं।'

१०-**समाना हृदयानि वः।** (१०। १९१। ४)
'तुम्हारे हृदय (मन) एक-से हों।'

११-**सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते।** (१०। १७। ७)
'देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते हैं।'

१२-**उद्बुध्यध्वं समनसः।** (१०। १०१। १)
'एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो उठो! जागो!!'

१३-**इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।** (८। २। १८)
'देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते

१-'समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चित्र समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः'॥ (ऋक्० १०। ११७। ९)

यहाँ प्रथम तीन पङ्क्तियाँ तीन दृष्टान्त-चित्र प्रस्तुत करती हैं और अन्तिम पङ्क्तिमें प्रस्तुत नैतिक वस्तुका निर्देश हुआ है। इस ऋचाके संदर्भमें ग्रिफिथने उचित ही लिखा है—

All Men should be liberal, but we must not expect all to be equally generous.
तथा— (The HYMNS of the V2vd2, P.626 hote g.)
Yet mere greatness is no indication of corresponding charity and so a needy person must be discriminating in his approach to rich men for begging. (R.Ksu Ktasati P. 291.note 9.)